

संपादक  
यशदेव शत्य – मुकुंद लाठ

# उन्मीलन

प्रबन्ध संपादक  
अंबिकादत्त शर्मा

मानसिक हिन्द स्वराज का  
वैतालिक दार्शनिक धार्मासिक

वर्ष 19, अंक 2  
जुलाई, 2005





# काश्मीर शैव दर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका (गतांक से आगे)

नवजीवन रस्ताएँ

सिद्धान्त, ज्ञान, अवधारणा, व्यापार

प्रत्यभिज्ञा का तीसरा प्रयोग प्रत्यय या अवधारणा के अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में इसे प्रत्यभिज्ञा का फल तथा प्रक्रिया दोनों का सैद्धान्तिक उन्मीलन भी कहा जा सकता है। इस तरह प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के लिए भी प्रयुक्त हुई है और प्रमा के अर्थ में भी। आदिश्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा के इस रूप को मध्यप्रयोजन<sup>79</sup> के रूप में प्रस्तुत किया है। देखा जाए तो विश्लेषणात्मक सन्दर्भों की दृष्टि से यह अर्थ सबसे अधिक प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनिकों के सामने कई तरह की चुनौतियाँ थीं। ऐतिहासिक सन्दर्भ में मुख्य चुनौती थी बौद्धों के संशयवाद की।<sup>80</sup> उसका सामना करने के लिए तरीका था –निरन्वय धर्म का निषेध करना और धर्मी या सान्वय प्रदत्त की उपपत्ति करना और इस प्रकार संशय के औचित्य को ही नकार देना, जैसा कि योगभाष्यकार ने किया।<sup>81</sup> इस तरीके का उपयोग नव्यन्याय के पूर्व के आस्तिक दर्शनों ने सामान्यतः किया। लेकिन काश्मीरियों ने इससे भिन्न तरीका अपनाया जो वैक्तिक न होकर अन्तःसंरचनात्मक था। वह था शक्ति के माध्यम से शिव के जगत्तया अवतरण और जगत् के शिवतया आरोहण के केन्द्रीय मिथक की आत्म-प्रत्यभिज्ञानरूप प्रक्रिया की शब्दावली में व्याख्या। चुनौती का दूसरा आयाम दर्शनिक था और उसका परिप्रेक्ष्य अपेक्षाकृत बड़ा था, जिसमें निगम, आगम, आस्तिक दर्शन और विज्ञानवाद शामिल थे। इस सन्दर्भ में, जैसे सूर्य पृथ्वी के सारे रसों और वर्षा के जलों का बीज से ऐसे समन्वय करता है जिससे पुष्ट अन्न उपज पाता है।<sup>82</sup> ठीक उसी प्रकार की तमाम प्रत्ययों के मध्य अन्योन्यान्वयी आन्तरिक संरचना के केन्द्रीय आधार के रूप में आत्मा के स्वरूप का अनुसंधान करना उनकी दूसरी प्राथमिकता थी।<sup>83</sup> यही कारण था कि अपने अद्वयवाद को समझाने के लिए उन्होंने पूर्णता और सामरस्य जैसे प्रत्ययों का सहारा लिया। इससे जन्मी एक उपचुनौती यह थी इस पूर्णतामूलक संरचना को एक साँचागत (कॉन्स्ट्रिट्यूटिव मॉडेल) प्रारूप का रूप देना, जिसमें ढलकर अवान्तर और अंतर्व्याप्ति संरचनाएँ इस प्रकार से विकसित हों कि उनकी वैयक्तिकता भी बनी रहे और उस वैयक्तिकता को वे गतिशील सत्य की उच्चतर और व्यापकतर योजना में अपनी निरन्तर भागीदारी से प्राप्त करें। इसके लिए प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय से उपयुक्त दूसरा प्रत्यय नहीं हो सकता था, यह आगे की विवेचना से स्पष्ट होगा।

चार्वाक, निम्बार्क तथा माध्व सम्प्रदाय, जो प्रत्यभिज्ञा की चर्चा प्रमातृसिद्धि के लिए नहीं करते, को यदि छोड़ दिया जाए तो भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में प्रत्यभिज्ञा के महत्व को स्वीकार करते हैं।<sup>84</sup> अद्वैत वेदान्त में प्रत्यभिज्ञा का नामतः अभ्युपगम नहीं हुआ है पर अखण्डार्थप्रतिपादक वाक्यों में बोध की प्रकारता प्रत्यभिज्ञात्मक ही है। उसे स्वतन्त्र प्रमाण की मान्यता केवल जैनों में ही मिली है। अन्यत्र प्रत्यभिज्ञा किसी न किसी प्रमाण या ज्ञानात्मक प्रकार में अन्तर्भूत हुई है। प्रत्यभिज्ञा में यह प्रक्रिया पलट गयी है। यहाँ सारे प्रमाणों में प्रत्यभिज्ञानात्मकता को अंतस्स्थूत माना गया है। इस दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा दर्शन बौद्धों और भर्तृहरि के निकट है, क्योंकि बौद्ध भी प्रत्यभिज्ञा को सांवृत ज्ञान का प्रागनुभविक सामान्यीकृत प्रकार मानते हैं। भर्तृहरि एक कदम आगे जाते हैं। वे सारी बोध-प्रक्रिया को प्रत्यभिज्ञानात्मक मानते हैं, परन्तु उनके यहाँ यह प्रत्यभिज्ञानात्मकता शब्दन तक सीमित है। प्रत्यभिज्ञावादियों को मूल प्रेरणा भर्तृहरि से मिलती है पर इसका अतिक्रामी और सर्वग्रासी विस्तार प्रत्यभिज्ञावादियों का अपना है, जो इसे परम तत्त्व की स्वरूप परिघटना और मोक्ष के प्रत्यय तक ले जाते हैं। उस पक्ष पर हम कुछ समय बाद विचार करेंगे।

प्रत्यभिज्ञा का शाब्दिक अर्थ है पहचानना। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा में जानने का अभिप्राय अनिवार्यतः पहचानने से है। मोटे तौर पर पूर्वप्रत्यक्ष या ज्ञात वस्तु का उसी व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्षीकरण या ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। पूर्व प्रत्यक्ष का स्मरण और वर्तमान में उसका प्रत्यक्ष अर्थात् प्रतिरूपक और साम्प्रतिक अंशों के साथ योग होने से यह ज्ञान निष्पत्त होता है। प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी प्रमाणात्मक चिन्तन की तीन कोटियाँ हैं। 'यह वही घड़ा है' इस ज्ञान को एक मानना यह पहली कोटि है। इस वर्ग का प्रतिनिधि दर्शन न्याय है। ज्ञान को एकतामूलक मानने का कारण है ज्ञान के दो कालों से विशिष्ट होने पर भी विषय की एकता। देश और काल-गत भेद के कारण स्मृत्यंश और प्रत्यक्षांश को पृथक् मानने वाले बौद्ध दार्शनिक इसे दो ज्ञान मानते हैं। यह दूसरी कोटि है। दो ज्ञान क्रमशः दो पक्षों का संकेत करते हैं। दोनों अंशों में सादृश्य के कारण होने वाला ज्ञान बुद्धिविकल्प मात्र है। तीसरी कोटि प्रत्यभिज्ञावादियों की है, जो इसे उभयात्मक या उभयज मानते हैं और अतीत तथा वर्तमान में एकता के लिए एक खास प्रक्रिया 'उभयमेलनात्मक प्रक्रिया' का आश्रय लेते हैं। हम यथावसर देखेंगे कि प्रत्यभिज्ञा आचार्यों के लिए यह प्रक्रिया कितने महत्व की है।

आगे बढ़ने के पूर्व अच्छा होगा कि हम सम्प्रदाय द्वारा प्रत्यभिज्ञा के सन्दर्भ में प्रयुक्त आधारभूत पदावली तथा उनकी निरुक्तियों पर एक नज़र डाल लें।<sup>85</sup> प्रत्यभिज्ञा की धारणा का विशदन सामान्यतः तीन पद समूहों द्वारा हुआ है। पहला है, अभिज्ञा पद समूह।<sup>86</sup> यह साक्षात् प्रत्यभिज्ञान का वाचक है और सामान्यतः प्रति उपसर्ग लगाकर इसका प्रयोग करते हैं। परि उपसर्ग के साथ भी (परिज्ञान) इसका प्रयोग मिलता है।<sup>87</sup> दूसरा है, मृश् पदसमूह। मृश् धातु का शाब्दिक अर्थ है स्पर्श करना। विभिन्न उपसर्गों के साथ हमें विमर्श, परामर्श, प्रत्यवमर्श, आमर्श, अवमर्श आदि शब्दों की एक पदमाला प्राप्त होती है जिनका सामान्य

अर्थ है आंतर शब्द या विचार से पदार्थ का स्पर्श अर्थात् विचार की ऐसी प्रक्रिया जो कहीं गहरे जा कर पदार्थ के अस्तित्व को प्रभावित करती हो। स्वयं पहले पदसमूह से इसका अन्तर इस अर्थ में है कि ये शब्द पहले से अन्य सन्दर्भों में भारतीय दर्शन में प्रयुक्त होते आ रहे थे पर काश्मीर शिवाद्वयवाद में इनका प्रयोग विचार, शब्दन, बोध, जिनकी संघटना प्रत्यभिज्ञानात्मक है, के अर्थ में हुआ है। भर्तृहरि में प्रत्यवर्मण शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।<sup>88</sup> बौद्ध न्याय के पुरोधा स्वयं धर्मकीर्ति ने प्रत्यवर्मण का प्रयोग प्रत्यभिज्ञान के अर्थ में किया है।<sup>89</sup> कई बार परामर्श या प्रत्यवर्मण की व्याख्या भी प्रत्यभिज्ञान पद से की गयी है, कभी साक्षात्<sup>90</sup> तो कभी दृष्टान्त के माध्यम से।<sup>91</sup> ध्यान देने की बात है कि अभिनव विमर्श की व्याख्या 'तम के अपसारण द्वारा स्फुटीकरण'<sup>92</sup> के माध्यम से करते हैं। व्यवहारसंधान के रूप में प्रमाण का भी यही काम—तमोऽपसारणम्—हमने देखा था। इस बात की व्यंजना दूरगमी है, क्योंकि यदि प्रकाश, जिसका स्वभाव विमर्श है, की कल्पना हमने स्वच्छता या निर्मलता (अर्थात् मलाभाव) के अर्थ में की है और विमर्श का काम तम का अपसारण है तो प्रकाश और विमर्श का नैसर्गिक तादात्म्य अपने आप स्फुटित हो जाता है। तीसरा पद समूह है—संधान (सम्+धा) पद समूह। यहाँ पर भी भिन्न उपसर्गों के योग से हमें अनुसंधान, प्रतिसंधान, अभिसंधान आदि अनेक शब्द प्राप्त होते हैं।<sup>93</sup> ज्ञानात्मक संदर्भों में इस शब्द का प्रयोग भारतीय दर्शन में अपरिचित नहीं है। न्याय में अभिसंधि, प्रतिसंधि, प्रतिसंधान इनका प्रयोग खूब हुआ है, विशेषतः उपनय, लिङ्गपरामर्श आदि के सन्दर्भ में। प्रत्यभिज्ञानादर्शन में इसका प्रयोग प्रत्यवर्मण, एकीकरण, स्मरण, योजन, अभिमुखन और प्रत्यभिज्ञान के अर्थ में हुआ है।<sup>94</sup> देखने की बात है कि ये सारे प्रयोग एक वर्ग के हैं और सातत्य, अनुवर्तन, एकीकरण बताने के लिए इनका प्रयोग हुआ है। अनुसंधान को एक पारिभाषिक शब्द के तौर पर अभिनवगुप्त विकसित करते हैं और सौन्दर्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका जमकर प्रयोग करते हैं। प्रक्रिया के तौर पर इसे पूर्वचर्चित 'उभयमेलन प्रक्रिया' से जोड़ते हैं और इसका प्रधानतम अर्थ प्रत्यभिज्ञान लिया गया है। इसके उलटे विरूपाक्ष-पंचाशिका प्रत्यभिज्ञा के लिए अनुसंधान या अनुसंहिति का ही प्रयोग करती है।<sup>95</sup> यद्यपि अनुसंधान के प्रत्यय पर हम आगे विचार करेंगे, यहाँ एक प्रश्न पर अवश्य ध्यान देलें। प्रश्न है कि सम्प्रदाय या सिद्धान्तवाची संज्ञा के लिए अनुसंधान की तुलना में प्रत्यभिज्ञा शब्द के प्रति उत्पल की परम्परा का इतना मोह क्यों है? पहली बात तो यह समझ में आती है कि अनुसंधान के अनेक अर्थ हैं जबकि प्रत्यभिज्ञा का एक ही अर्थ है, अतः अपनी पहचान बताने के लिए प्रत्यभिज्ञा अधिक स्पष्ट है। दूसरे, अनुसंधान मुख्यतः प्रक्रियावाचक शब्द है जब कि प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया से अधिक है—वह व्यापार, फल और मूल्य तीनों ही है। इन पदसमूहों के अतिरिक्त एक आन्तरालिक या अवान्तर पद समूह और भी है जिसमें जात्या तो एकरूपता नहीं है पर अर्थ की दृष्टि से साजात्य है। उसमें एक प्रकार से मध्यवर्ती प्रत्यय आते हैं जिनमें प्रत्यभिज्ञा की अर्थच्छाया दिखाई देती है। इस भाँति प्रतिभा को प्रकाश और विमर्श के, स्फुरत्ता को प्रकाश और स्पन्दन के और भास

को भासन (प्रकाश) और भान (विमर्श) के आन्तरालिक प्रत्यय के रूप में लिया जा सकता है, जो प्रसंगभेद से दोनों अर्थों में दोलारूढ़ है।

प्रत्यभिज्ञा की आर्थिक निरुक्ति के व्याज से प्रत्यभिज्ञा आचार्यों ने एक प्रकार से उसकी पद-मीमांसा (हर्मेन्यूटिक्स) भी विकसित कर ली है, उससे संक्षिप्त साक्षात्कार प्रासंगिक भी होगा और अवबोधक भी। सामान्यतः भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा के दो अवयव माने जाते हैं – प्रति+अभिज्ञा, और संस्कारसहकृत प्रत्यक्ष के एक भेद को बताने के लिए उसका प्रयोग होता है।<sup>96</sup> काशीर शैवदर्शन में इसके तीन अवयव माने गए हैं—प्रति+अभिज्ञा,<sup>97</sup> और इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा शब्द की सामान्यने व्याख्या होती है—पलटकर (प्रति) सामने आने पर (अभि) प्रकाशित होना (ज्ञान)।<sup>98</sup> इनमें से प्रत्येक अवयव को स्वतन्त्र रूप से लेने पर हम देखते हैं कि ‘प्रति’ का अर्थ है ‘प्रतीप’ अर्थात् पलटा हुआ। पलटकर आने की स्वाभाविक स्थिति है—सामने आना। यह प्रयोग लगभग ठीक उसी अर्थ में है जिस में ‘प्रत्यक्ष’ का प्रयोग ‘प्रत्यक्चिति’ में हुआ है।<sup>99</sup> इसके अतिरिक्त जिन अन्य चार अर्थों में प्रति का प्रयोग हुआ है वे हैं—अनुसंधान,<sup>100</sup> आभिमुख्य,<sup>101</sup> आन्तर्य<sup>102</sup> और प्रत्यावृत्ति।<sup>103</sup> आपाततः इन सबके अलग-अलग अर्थ हैं पर थोड़ा सा विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट दीखने लगती है कि इन सारे अर्थों में प्रत्यभिज्ञावित् क्रमिक तरतमभाव ढूँढ़ लेते हैं। पूर्वानुभव के विषय की फिर से प्रत्यावृत्ति होने अर्थात् लौटने पर वर्तमान में उसके अभिमुख होने पर पूर्व और वर्तमान का अनुसंधान एक आन्तरिक विमर्श को जन्म देता है—‘यह वही देवदत्त है।’ यद्यपि इस बोध में आन्तर अवमर्श का प्रत्यायक कोई शब्द नहीं है, फिर भी सारे ज्ञानों की आत्मविश्रान्ति हुए बिना कोई भी ज्ञान आकार नहीं ग्रहण कर पाता, अतः ‘मैं जानता हूँ’ या ‘मैं जान गया हूँ’ यह विषयिगत चेतना तो रहती ही है। प्रत्यभिज्ञा के सन्दर्भ में प्रतीप का – वापसी का – भाव अत्यन्त उत्क्वण (स्पष्ट) है। इसलिए ‘प्रतिभा’ (प्रति+भा) में भी प्रति की व्याख्या कभी-कभी प्रतीप की शब्दावली में की गयी है।<sup>104</sup> इस प्रकार प्रतीप→प्रत्यावृत्ति→आभिमुख्य→अनुसंधान→आन्तर्य, यह क्रम सहज ही ढूँढ़ा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा का दूसरा अवयव है ‘अभि’। यद्यपि प्रति में ही हमने आभिमुख्य को गतार्थ देखा था, पर इसकी विशिष्ट अर्थवत्ता को देखते हुए अभि की व्याख्या सामान्यतः, प्रति से अलग, अभिमुख के अर्थ में की गयी है।<sup>105</sup> यों तो जैसाकि हम देख चुके हैं कि प्रतीप अर्थात् लौटने या पलटने की सहज परिणति विषय के प्रति अभिमुखता है—लौटकर हम विषय के आमने सामने होते हैं। पर यह केवल यान्त्रिक या प्रतिस्फूर्त प्रतिक्रिया ही नहीं है, इसमें सामने का विषय पूरी तरह से आलोक परिदृश्य में होने के कारण हमारी धारणा के केन्द्र में होता है।<sup>106</sup> अतः परिणमनीय ज्ञान की प्रकृति विशुद्ध रूप से अव्यवहित होती है जिसमें विषयी और विषय का किसी भी आगन्तुक उपाधि की परवशता से मुक्त रहने के कारण तादात्म्य सहज होता है।<sup>107</sup> यह बात और भी स्पष्ट होती है अभि अर्थात् आभिमुख्य

को दिये गए तीन अन्य अर्थों से। एक अर्थ हृदयंङ्गमीभाव है।<sup>108</sup> ज्ञात जब मोह या विस्मृति के कारण हमारे लिए अज्ञात सा हो जाता है, उसका फिर से सामने होना सिर्फ़ एक मानस व्यापार ही नहीं होता, उसमें हृदय का आश्वासन, एक प्रकार बोध से होने वाली हार्दिकता भी होती है। इस अर्थच्छाया को अभिनवगुप्त समावेश की अवधारणा में उपयोगी पाते हैं।<sup>109</sup> दूसरा अर्थ है स्फुटता। भूला हुआ जब सामने फिर से आता है तो वह हमारी चेतना में स्मरण के विषय की तरह नहीं अपितु प्रत्यक्ष द्वारा स्फुट विषय के रूप में गृहीत होता है।<sup>110</sup> स्फुटता के कारण ही 'यह वही है' इस प्रकार उस ज्ञान की अनपहवनीयता का ख्यापन होता है।<sup>111</sup> तीसरा अर्थ है स्वरूपसर्वस्वस्वीकार, अर्थात् विषय का उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण।<sup>112</sup> इस अर्थ में काश्मीर शैवदर्शन में ज्ञान की अनुसंधानमूला प्रकृति को भारतीय दर्शन की अध्यवसायमूला प्रकृति से अलग करके देख पाने का आधार मिलता है।

तीसरा अवयव है 'ज्ञान'। इसका प्रसिद्ध अर्थ है प्रकाशन या ख्यापन। ज्ञान के प्रमाण रूप में प्रत्यभिज्ञा<sup>113</sup> की चर्चा सबसे पहले सोमानन्द करते हैं।<sup>114</sup> उनके अनुसार एक पक्ष के प्रत्यक्ष (दृष्टता) से वस्तु की पूर्व दृष्टि सारी विशेषताओं का स्मरण प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। यह विविधता भरा विश्व शिव में ही प्रतिष्ठित है और उसी एक विशेषता का दर्शन शिव के समग्र स्वरूप का स्मरण कराता है। इस तर्क का प्रयोग वह बौद्धों के विरुद्ध पदार्थों की आन्तरिक एकता या ज्ञानों के एकीकरण की सम्भावना को प्रदर्शित करने के लिए करते हैं। एक के दर्शन से सबका बोध, यह युक्ति सोमानन्द की सर्वशिवता को स्थापित करने में सहायक होती है।

प्रत्यभिज्ञा की दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठा और अवध्यरणा के अंकुरण में वास्तविक योगदान उत्पल का है। यह अवश्य विचित्र लगता है कि वह प्रत्यभिज्ञान की कहीं परिभाषा नहीं करते। दूसरे, उनका आग्रह पारमार्थिक अधिक है, अपेक्षया ज्ञानमीमांसा के। आदिश्लोक में 'प्रत्यभिज्ञापयामि' में प्रयोजक व्यापार का अर्थ है जिज्ञासु को परमार्थ लाभ कराकर तोष पाना।<sup>115</sup> तीसरी कारिका<sup>116</sup> में वह प्रत्यभिज्ञा का अर्थ लेते हैं दृढ़निश्चय।<sup>117</sup> ज्ञान है निश्चय और उसमें दृढ़ता का अंश प्रत्यभिज्ञा की देन है। उत्पल के अनुसार व्यवहार में होने वाले हमारे अशुद्ध अनुसंधानमूलक बोध (जो मैं मोटा था वही अब दुबला हो गया है—जहाँ 'मैं' का ग्राह्य 'देह' है न कि आत्मा) भी, जो आपाततः अहंविमर्शमूलक होने के कारण विकल्प नहीं लगते, वस्तुतः विकल्प हैं। परन्तु यह विकल्प भी प्रमातृव्यापार होने के नाते प्रत्यभिज्ञा ही है।<sup>118</sup> इस प्रकार उत्पल का संकेत प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान का सामान्यीकृत प्रकार मानने में है। परन्तु देह, बुद्धि आदि बाह्य और विच्छिन्न प्रमाताओं की कल्पना प्रमाता की वास्तविक प्रत्यभिज्ञा नहीं है। वास्तविक प्रत्यभिज्ञा तो शुद्ध विद्या या विद्याशक्ति के द्वारा ज्ञानक्रियारूप ऐश्वर्य का अभिज्ञापन है।<sup>119</sup> यहाँ पर उत्पल अभिज्ञा या अभिज्ञापन शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रसंग में उत्पल माया शक्ति और विद्या शक्ति का अन्तर पहले ही बता चुके हैं। माया शक्ति वह है जो व्यक्ति के स्वाभाविक ऐश्वर्य को ढँक देती है, जबकि विद्या बंधन की स्थिति में भी उस ऐश्वर्य का

अनावरण करती है।<sup>120</sup> उत्पल का संकेत है कि सांसारिक स्थिति में भी मोक्ष की सम्भावना वास्तविक और प्राप्य है। प्रत्यभिज्ञा के द्वारा इस प्रकार प्राप्य फल अपनी कोटि का एक है—वह 'अपूर्व' है।<sup>121</sup> यहाँ प्रत्यभिज्ञा को समझने के लिए उत्पल ने एक दृष्टान्त दिया है : एक नायिका ने अपने प्रिय नायक की अत्यन्त प्रशंसा सुन रखी थी। बड़ी मनुहार से जब वह उसके पास आया तो पास खड़ा रहने पर भी, सुने हुए गुणों के विखाई न देने के कारण वह उसे साधारण लोगों जैसा ही लगा। फलतः उसके साथ वह रमण का आनन्द न ले सकी। जब सखियों ने उसके गुण बताते हुए उस नायक की पहचान कराई तो युवती को अपूर्व आनन्द मिला। ठीक वैसे ही हमारा यह आत्मा, जो सारे संसार का स्वामी है, उसके गुण भी जब लोग देख नहीं पाते तो उसका ऐश्वर्य भी प्रकट नहीं हो पाता। इसीलिए इस प्रत्यभिज्ञा का प्रतिपादन उसकी पहचान कराने के लिए किया जा रहा है।<sup>122</sup> इस दृष्टान्त का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि यह एक प्रकार की जटिल प्रत्यभिज्ञा है। क्योंकि अतीत और वर्तमान, प्रतिरूपक और साम्प्रतिक अंश का एकीकरण यहाँ अवश्य है पर अतीत अनुभव प्रत्यक्षात्मक नहीं है, अपितु सूचनाओं पर आधारित बुद्धि निर्मित या मानस चित्र है। वर्तमान अनुभव के दो अंश हैं। अंशतः वह प्रत्यक्षात्मक है और अंशतः दूतीवचन या लक्षण बताने वाले अन्य उपायों द्वारा प्रयोजित अर्थात् सूचनात्मक है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञान स्मृति-चित्र, मानस-प्रतिमा के परवर्ती विषय की तुलना से भी सम्भव है। जब हम स्वात्म-रूप इस दृष्टान्त को दार्ढान्तिक अर्थात् ईश्वर में लगाते हैं तो हम देखते हैं कि यद्यपि ईश्वर को हमने आगम, श्रुति, पुराण आदि सभी से जान रखा है, फिर भी इस सूचना से वह परमेश्वर पूरी तरह से हमारे मन में भासकर हमें तृप्ति नहीं देता। परन्तु गुरुवचन, शास्त्र या उसकी शक्ति आदि की पहचान से जैसे ही परमेश्वर का ऐश्वर्य भासित होता है उसी समय उसका प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। अभिवगुप्त के शब्दों में वह क्षण पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्ति का है।<sup>123</sup> इसके पूर्व उत्पल एक और प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव की चर्चा कर चुके हैं, जिसमें समस्त सृष्टि का प्रत्यभिज्ञान 'यह सब मेरा वैभव है' इस प्रकार आत्मर्धमतया होता है।<sup>124</sup> यहाँ विकल्पों का विमर्शीकरण होता है। यहाँ उत्पल प्रत्यभिज्ञा में नया आयाम जोड़ते हैं। वह प्रत्यभिज्ञान के पर्याय परिज्ञान (परिज्ञानतः) को आवेश के प्रत्यय से समीकृत करते हैं।<sup>125</sup> इस प्रत्यय की दिशा महेश्वर की ओर से विश्व के आवेशन की है जबकि कारिकाओं के अन्त में दिशा आत्मा की ओर से शिव के आवेशन की है।<sup>126</sup> उत्पल यहाँ जोर देकर कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का एकमात्र प्रयोजन शिवता की उपलब्धि करना है।<sup>127</sup> पर इस बिन्दु का सम्बन्ध हमारे वक्तव्य के अगले चरण से है। हम तभी इस पर विचार करेंगे।

हमने अभी कुछ देर पहले देखा था और आगे भी अपने अध्ययन-प्रसंग में यह बात देखने को मिलेगी कि अभिवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय में अनुसंधान की अवधारणा को केन्द्रीय माना है।<sup>128</sup> परन्तु उत्पल में ऐसा प्रयत्न नहीं मिलता, कम से कम आपाततः तो नहीं। अनुसंधान का उत्पल दो अर्थों में प्रयोग करते हैं—एकप्रत्यवर्मश<sup>129</sup> और

अन्योन्यविषयसंघटना।<sup>130</sup> ऐक्य की व्याख्या भी वे अनुसंधान<sup>131</sup> और अन्योन्यान्वयरूपता की शब्दावली में करते हैं। इस प्रकार ऐक्य और अनुसंधान में परस्पर विनिमय सम्भव है। ऐक्य सरल एकता न होकर विविधता में पारस्परिक अनुप्रवेश है। इससे प्रत्यभिज्ञा की निकटता तो प्रतीत होती है, पर दोनों की एकता अनुमानगम्य ही कही जाएगी। हम दिखा चुके हैं कि उत्पल के एकप्रत्यवर्मण के प्रत्यभिज्ञान के अभिप्राय में ग्रहण किया जा सकता है, पर यह भी व्याख्यासह है। कम से कम उत्पल साक्षात् कुछ नहीं कहते।

उत्पल ने जो नहीं कहा या जो कहने से रह गया उसको कहने की जिम्मेदारी अभिनवगुप्त पर आयी। प्रत्यभिज्ञा की अवधारणा के विकास में उनका अवदान असामान्य महत्त्व का है। प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणमीमांसा को विकसित करना, प्रत्यभिज्ञा का पारार्थनुमान के रूप में पल्लवन, प्रत्यवर्मण, अनुसंधान और प्रत्यभिज्ञान की पारस्परिकता को एक व्यवस्थित समंजस रूप देना, सन्मीमांसा और परमार्थमीमांसा के साथ उनकी संगति बैठाना और प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सभी उपप्रत्ययों को प्रत्यभिज्ञात्मक संरचना का अंग बनाना, तान्त्रिक साधना के मूलाधारों के साथ उसकी अविति ढूँढ़ना और दर्शनितर कला, काव्य इत्यादि क्षेत्रों में इसका सार्थक और उर्वर विनियोग करना और अन्तव्यासि संरचनात्मक और मूल्यात्मक एकसूत्रता का निष्पादन करना अभिनवगुप्त की महती मेधा की ही क्षमता थी। आगे के सारे प्रतिपादन में अभिनवगुप्त हमारे उपर्याप्त रहेंगे।

हम थोड़ा पीछे लौटते हैं। तीनों अवयवों को समन्वित करके अर्थ निकलता है कि वस्तु का फिर से (प्रति) सामने आने पर (अभि) जानना या पहचानना (ज्ञान) प्रत्यभिज्ञा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भात का भासमान से एकीकरण प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञान तभी सम्भव है जब वस्तु के दो क्षणों के मध्य ज्ञानसम्बन्ध, चाहे जिस भी कारण से हो, दृट जाए। इस विच्छिन्नता को मोह या विस्मृति कहा जाता है। इस प्रकार यह अनुसंधान या एकीकरण ही प्रमेय विषयक मोह का अपसारण है।

एकीकरण की यह प्रक्रिया एक ही अधिकरण पर घटित होती है। इन्द्रियसन्निकर्ष और संस्कारोद्बोध दोनों ही इसमें कारण हैं। दर्शन और स्मरण के अन्तर्मुख परामर्श से अभिन्नविषयता का जन्म होता है। यही प्रमा है।<sup>132</sup> अभिन्नविषयता का अर्थ विषयों का एकीकरण नहीं है, अपितु दो ज्ञानों का मिलन है। इसीलिए हम जैसाकि पहले संकेत कर चुके हैं, यहाँ इस प्रक्रिया को उभयमेलनात्मक प्रक्रिया कहा गया है।<sup>133</sup> प्रश्न है कि परवर्ती अनुभव के समय प्रत्यक्षीकृत वस्तु का स्वरूप क्या है? यदि वह विगत अनुभव का विषय मात्र है तो प्रत्यभिज्ञा और स्मरण में कोई भेद नहीं रहेगा, और यदि वह एक साम्प्रतिक घटनामात्र है तो प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञा में कोई अन्तर नहीं रहेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि इसमें भूत में घटित का संस्कार भी है। अतः प्रत्यक्ष और स्मृति को एक-दूसरे में विगलित नहीं किया जा सकता। प्रत्यभिज्ञा सरल वृत्ति न होकर जटिल वृत्ति है। विस्तृपाक्षपंचाशिका के वृत्तिकार विद्याचक्रवर्ती ने इसे बहुत अच्छे ढंग से समझाया है। पदार्थ का ज्ञान यहाँ न्याय की भाँति दो कालों से उपहित नहीं होता अपितु दो कालों के

अनुभवों की एकविषयता का ग्रहण प्रत्यभिज्ञा है। 'यह वही है' इस ज्ञान में 'यह' वर्तमानकालिक अनुभव का ग्राहक है न कि अनुभव के विषय का, और 'वह' स्मृतिमूलक अनुभव का ग्राहक है न कि स्मृति के विषय का। इस प्रकार स्मृति और अनुभव की इन्द्रियगोचर पदार्थ की ओर उन्मुख होकर एक प्रत्ययरूपता ही प्रत्यभिज्ञा है।

प्रत्यभिज्ञा के दो घटक हैं – प्रत्यक्ष और स्मृति। इनमें साम्प्रतिक अंश अनिवार्यतः प्रत्यक्षात्मक होता है, पर अतीत ज्ञान भी प्रत्यक्षात्मक ही है, शैव ऐसा नहीं मानते। अभिनवगुप्त और उत्पल के दिये हुए दृष्टान्तों का विश्लेषण किया जाए तो कहा जा सकता है कि अतीत ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीनों से सम्भव है। इनमें अतीतागत प्रत्यक्ष भी सामान्यात्मना या विशेषात्मना किसी भी प्रकार से हो सकता है तथा आगम में स्मृति-चित्र और मानस-प्रतिमा को भी समेटा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा की संघटना का आन्तरिक सघनीकरण किया गया है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि प्रत्यभिज्ञा को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर उसका तीनों-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-में अन्तर्भाव किया गया है।<sup>134</sup> प्रमाण के मोहापसरणरूप होने के कारण यह प्रत्यभिज्ञा सारे ज्ञानों की मौलिक प्रकृति का संकेतन करती है, अतः यह समीकरण समीचीन प्रतीत होता है। पर प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के इस सामान्यलक्षण पर ही नहीं रुकती, उनके विशेष लक्षणों तक जाकर उनकी प्रत्यभिज्ञानात्मकता का भी अन्वेषण करती है। सारे प्रमाणों में अन्तर्भाव का स्रोत बौद्ध हैं। बौद्ध न्याय ने प्रत्यभिज्ञा की दो स्थितियों की परिकलना की है। पहली, विकल्प बोध या ज्ञान की विशिष्ट प्रकारता के रूप में-'सोऽयं देवदत्तः', जहाँ अतीत और वर्तमान के सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा अस्तित्व में आती है। विकल्प ज्ञान होने के नाते यह भ्रान्तिजन्य ज्ञान है, क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, स्मरण और प्रत्यक्ष दोनों में देश और काल का भेद होने के कारण इस ज्ञान में सत् का विषयण या संदर्भण नहीं होता। परन्तु हमारे लिए महत्वपूर्ण है दूसरी स्थिति, जिसे कल्पनाजन्य प्रत्यभिज्ञा कहा जा सकता है और जो सारे विकल्पज्ञान की विकल्परूपता का आधारक है। विकल्परूपता का कारण है अभिलापसंसर्ग, जिसका विषय है सामान्यलक्षण। सामान्यलक्षण का अर्थ है नाम-जाति-गुण-क्रिया-द्रव्य-कल्पना की स्वलक्षण में योजना।<sup>135</sup> कल्पना ऐसी प्रत्यवर्मण योजना है जिसमें उद्देश्य विधेय का प्रतिनिधि बन जाता है—अर्थात् अनिश्चित वस्तु विधेय के द्वारा निश्चितर बनती है—'स एवाऽयम्'। 'अयं डित्थः' यह नामकल्पना है, 'इदं नीलम्' यह गुणकल्पना है, 'गोरयम्' यह जातिकल्पना है और 'अयं देवदत्तः' यह द्रव्यकल्पना है। यह निश्चय का प्रमाणशास्त्रीय आकार है और प्रत्येक ज्ञानाकार इसी में पर्यवसित होता है।<sup>136</sup> अभिनवगुप्त इसलिए बौद्ध मत के अभिलाप को 'विकल्पलक्षणमहासामान्य' कहते हैं।<sup>137</sup>

अभिनवगुप्त को बौद्ध दार्शनिकों से दो प्रेरणाएँ मिली हैं। बौद्धों की ही भाँति वे भी प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान का सामान्यकृत प्रकार मानते हैं। और इसका मूल भी वही मानते हैं जो बौद्धों ने माना है—अभिलाप। विभिन्न प्रमाणों के साथ समीकरण के मूल में यही कारण है।

परन्तु अभिनव के यहाँ यह अभिलाप से 'संसर्ग' या 'योग' न होकर 'तदात्मकता' है। अर्थात् अभिलाप, जिसे अभिनवगुप्त प्रत्यवर्मण कहते हैं (और जो शब्द इस प्रसंग में उन्हें बौद्धों से ही मिला है), विषय का स्वभाव है। यह प्रत्यवर्मण हमारी चेतना का अन्तरंग संश्लेषणात्मक व्यापार है जिसे प्रत्यभिज्ञावादी आचार्य 'अनुसंधान' कहते नहीं थकते। यही कारण है कि इस अभिलाप में पूर्वापरज्ञानमेलन (अतीत ज्ञान और प्रत्यक्ष) संगत हो जाता है जबकि बौद्धमत में यह असम्भव है। इस प्रकार दोनों दर्शन एक ही मूलबिन्दु को आधार बनाते हुए सिद्धान्त-विलोमन के द्वारा दो विरोधी निष्कर्षों तक पहुँचते हैं। दूसरी प्रेरणा अभिनवगुप्त को प्रत्यभिज्ञानजन्य ज्ञान के विशिष्ट स्वभाव को बताने में मिलती है। बौद्धों ने कल्पनाजन्य प्रत्यभिज्ञा का प्रभाव ज्ञान की निश्चिततरता में देखा था। अपनी लोचन टीका में उत्पल की अन्तिम कारिका को, जहाँ वे प्रत्यभिज्ञा का दृष्टान्त देते हैं, को उद्धृत करते हुए अभिनवगुप्त का कहना है कि दो अनुभवों का मिलन वस्तुतः ज्ञात का 'विशेषतः' निरूपण करता है। और यह 'विशेष' निरूपण हजारों रूप धारण कर सकता है। 'यह वही है' (तदेवेदम्) यह ज्ञानाकार प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान के आकार की एक विधा मात्र है, एकमात्र विधा नहीं है। 'यह ऐसा है' (इदमित्थम्) यह ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञानात्मक है।<sup>138</sup> अभिनव का यह मन्तव्य एक ओर तो उन्हें उत्पल के प्रमाणलक्षण<sup>139</sup> से जोड़ कर सारे ज्ञान को प्रत्यभिज्ञानात्मक बना देता है और दूसरी ओर जिस विशिष्ट प्रसंग में वह चर्चा कर रहे हैं वह पूरे काव्यार्थ बोध को काव्यगत शब्द और अर्थ की प्रत्यभिज्ञा में पर्याप्ति कर देता है।

इन निष्कर्षों में अभिनवगुप्त की प्रेरणा का दूसरा स्रोत है—भर्तृहरि। देखा जाए तो बौद्धों ने अपने सिद्धान्त को भर्तृहरि की प्रत्यालोचना से शुरू किया और अभिनवगुप्त ने बौद्धों का खण्डन कर भर्तृहरि को पुनःप्रतिष्ठित किया। वाग्रूपता को, जिसे बौद्ध अभिलाप कहते हैं, भर्तृहरि ज्ञान का शाश्वत स्वभाव मानते हैं। इस वाग्रूपता का स्वभाव है प्रत्यवर्मण, जिसके द्वारा वह प्रकाश का निरन्तर विषयन करती है। यह प्रत्यवर्मण एक प्रकार से प्रत्यभिज्ञानात्मक है, अन्यथा ज्ञान और वस्तु के स्वरूप की पहचान नहीं हो सकेगी। इस प्रक्रिया का अनुवाद शब्दार्थ-बोध में भी होता है। 'यह वह है' (सोऽयम्) ज्ञान के द्वारा हम सामान्य विषय का ग्रहण करते हैं। इस ज्ञान में संकेतकाल का 'वह', व्यावहारिक ज्ञान के 'यह' से एक रूप हो जाता है। 'गाय' प्रतीक 'गाय' पदार्थ से एक रूप हो जाता है। शब्द और अर्थ के एकीकरण की यही प्रक्रिया है।<sup>140</sup> वस्तुतः प्रकाश और विमर्श की शब्दावली प्रत्यभिज्ञावादियों को भर्तृहरि से प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त एक प्रकार से भर्तृहरि के सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हैं। मुख्य अन्तर है जहाँ भर्तृहरि अर्थ को 'शब्द' पर अध्यस्त मानते हैं। अभिनवगुप्त व्यवहार में इस अध्यस्तता को स्वीकार करते हुए भी अर्थ को शब्दन-क्रिया मानते हैं और परमार्थीमांसा में भी अर्थ को शब्द का विवर्त न मानते हुए परमाद्वैत को शब्द और अर्थ का सामरस्य मानते हैं।

स्मृति और अनुभव में मेलन का कृत्य अनुसंधान पर आश्रित है। एक ही अधिकरण पर भिन्न माने गए ज्ञानों में एकान्वयिता को हूँढ़ लेना ही अनुसंधान है। इस अर्थ में प्रमाता

की अन्तर्मुख चेतना ही वास्तविक अनुसंधान है, क्योंकि वही एक सूत्र है जिसमें सारे ज्ञान पिरोए हुए हैं।<sup>141</sup> अंतर्मुख तादात्म्य के विमर्श रूप में परिभाषित यही अनुसंधान प्रत्यभिज्ञा है। ज्ञानात्मक संदर्भों में एकविषयता की प्राप्ति इसका लक्षण है।<sup>142</sup> शब्दनात्मक संदर्भों में इसकी अध्यास संज्ञा है।<sup>143</sup> क्रियात्मक संदर्भों में इस अनुसंधान की सम्बन्ध संज्ञा है। नाना आभासों के मध्य व्यामिश्रण की योजना संज्ञा है। ये तीनों प्रत्यय एक सीढ़ी बनाते हैं। नाना आभासों के मध्य मेलन योजनाश्रित है। दो वस्तुओं (स्वलक्षणाभासों) के मध्य मेलन सम्बन्धाश्रित है। एक पदार्थ की विभिन्न कालों/देशों में अवस्थिति के मध्य मेलन अनुसंधानाश्रित हैं। योजना बहुलता की, सम्बन्ध दो की और अनुसंधान एक की स्थिति में होता है। इन तीनों ही धारणाओं का लक्ष्य है एकत्र की खोज, पर योजना का क्षेत्र है भेदरूप भासन, सम्बन्ध का भेदभेदरूप भासन और अनुसंधान का अभेदरूप भासन। थोड़ा महीन विश्लेषण करने पर देखते हैं कि योजना को पदार्थ का नाम दिया जा सकता है, सम्बन्ध को बुद्धि का और अनुसंधान को विमर्श का। प्रत्यभिज्ञा चूँकि सभी स्तरों पर सक्रिय है, अतः ये सभी अनुसंधान में जाकर पर्यवसित होते हैं। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा 'पदार्थ' या 'बुद्धि' रूप न होकर, 'विमर्श' रूप है। परन्तु 'तादात्म्य का विमर्श' या 'स्वात्मरूप में विश्रान्ति' के अर्थ में ही अनुसंधान प्रत्यभिज्ञा का पर्याय कहा जाना चाहिए अन्यथा अनुसंधान प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि का साधन है। प्रत्यभिज्ञा-प्रतिपादक शब्दों में एक तारतम्य का अनुसंधान करने का साहस किया जा सकता है, जिसकी प्रामाणिकता की परीक्षा भविष्य के अध्ययनों के हाथ रहेगी : प्रत्यभिज्ञान→प्रत्यवर्मश→अनुसंधान→सम्बन्ध-योजना→अध्ययन→अध्यास→अभिलाप→आभास।<sup>144</sup>

अनुसंधान की चर्चा के दौरान उभयमेलनात्मक प्रक्रिया का सन्दर्भण आवश्यक होगा। यथाप्रसंग पहले उसका नामोल्लेख हुआ है। अनुसंधान के प्रक्रियांश को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक इसका आश्रय विशेष कारण से ले रहे हैं।<sup>145</sup> यों तो उभयमेलन प्रक्रिया बड़ी व्यापक है। जैसा शब्द से स्पष्ट है यह दो का मिलन है। एक से अधिक ग्राहीों के मध्य, ग्राहक और ग्राह्य के बीच, दो प्रमाताओं के बीच, दो ज्ञानों के मध्य, ज्ञान और प्रमाता के मध्य सभी के मिश्रण इसकी परीधि में आते हैं। पर प्रत्यभिज्ञा के सम्बन्ध में यह मेलन या अनुसंधान दो ज्ञानों के मध्य माना जाता है। अतीत ज्ञान अर्थात् स्मृति और वर्तमानकालिक बोध अर्थात् प्रत्यक्ष उनके पारस्परिक अनुसंधान या मेलन से प्रत्यभिज्ञा अस्तित्व में आती है अर्थात् दो ज्ञानों की विषयगत एकता की निष्पत्ति होती है। अर्थात् यहाँ अनुसंधान या एकीकरण की व्याख्या मेलन के शब्दों में होती है। उसके दो कारण हैं। एक तो सत् की यहाँ जो भावना की गई है वह निविशेष, सरल एकता मात्र नहीं है, वह भिन्नों की ही नहीं विरोधियों की भी, उनके पारस्परिक अन्तरालों के समंजसनपूर्वक एकतानता है। इस बात को वह दोनों ज्ञानों की निजी प्रकृति को सुरक्षित रखते हुए विषयद्वार से उनकी एकता में अनूदित करते हैं। इस वृत्तिजटिलता की बात की ओर हम इंगित कर आये हैं। दूसरा कारण ये ज्ञान के नैसर्गिक स्वभाव में देखते हैं। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता का अर्थ है कि वह अन्य

ज्ञान से प्रकाशित नहीं होता। स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों ज्ञानत्वेन स्वयंप्रकाश हैं। अतः स्मृति का प्रत्यक्ष विषय नहीं हो सकता। एतदर्थं उनका एकीकरण पारस्परिक विगलन द्वारा सम्भव नहीं है, वह एकता विषय के माध्यम से ही सम्भव है।<sup>146</sup>

अभिनवगुप्त अनुसंधान के प्रत्यय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपयोग एक मौलिक दार्शनिक गुण्ठी को सुलझाने के लिए करते हैं। प्रश्न को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। स्मृति और प्रत्यक्ष की सह-क्रियाशीलता से उत्पन्न ज्ञान प्रकृत्या सविकल्पक होता है, अतः चरम प्रत्यभिज्ञा का निर्दर्शक 'सोऽहम्' आकार वाला निर्विकल्पक बोध सविकल्प ज्ञान से कैसे उत्पन्न होता है और 'सोऽहं' में 'अहं' और 'सः' के भिन्न अंश उस ज्ञान को निर्विकल्पक कैसे रहने देते हैं? अभिनव का कहना है कि ज्ञान की प्रकृति अर्थ की प्रकृति से निर्धारित होती है। काल आदि का आरोपण अर्थ में होता है, ज्ञान में नहीं, अपने में ज्ञान विकल्पहीन है। साधारण प्रत्यभिज्ञा का विषय विकल्पात्मक है, अतः उसकी प्रत्यभिज्ञा भी सविकल्पक है। यद्यपि 'स एवायं घटः'—यही वह घड़ा है—जैसे स्थलों में एकता का अनुसंधान होने पर भी वह विकल्पक ही रहता है, फिर भी देश, काल आदि भेदों के बावजूद उनकी तुलना में आकार की एकता के अधिक स्फुटित होने के कारण, जैसे एक दम से बिजली कौंधने पर एक क्षण के लिए चीज़ प्रकाशित हो जाती है, वैसे ही इस प्रत्यभिज्ञा को भी मौलिक प्रत्यभिज्ञा की ओर पहला कदम मानना चाहिए।<sup>147</sup> जहाँ तक अहंविमर्श का प्रश्न है, यहाँ अहं प्रमेय निर्विकल्पक है।<sup>148</sup> अतः इसकी प्रत्यभिज्ञा की निर्विकल्पकता भी असंदिग्ध है। विकल्प का स्वरूप है दूसरे से व्यवच्छेद। जहाँ भी बोध का प्रतियोगी होगा, अर्थात् उसका विषय अन्य से व्यवच्छेद्य होगा, वह ज्ञान विकल्परूप होगा।<sup>149</sup> बौद्धों के अपोह सिद्धान्त के विरोध में महेश्वर की अपोहन शक्ति का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त प्रकृत समस्या पर विचार करते हैं। यहाँ भी अपोहन व्यापार की शक्तिरूपता के आविष्करण से महेश्वर का प्रत्यभिज्ञान कराना ही उनका लक्ष्य है। वायूपूता अर्थात् ज्ञान की शब्दनरूपता विकल्प का कारण नहीं है, कारण है बोधविषय के प्रतिस्पर्धी विषय की सम्भावना का आरोप, ताकि उससे व्यवच्छेद किया जा सके। वहिं के लिए आवश्यक है अवहिं की सम्भावना का आरोपण और फिर उसका निषेध करते हुए वहिं का निश्चयन। यही विकल्प-ज्ञान की प्रक्रिया है। यदि थोड़ा विषयान्तर करें, वस्तुतः व्यापकतर सन्दर्भ में विषयान्तर नहीं होगा, तो अभिनवगुप्त अपोहन की परिभाषा में भी उभयमेलन का आश्रय लेते हैं। रत्नकीर्ति की व्याख्या का अनुवदन करते हुए वे कहते हैं कि यहाँ दो विषयों का निषेधात्मक मेलन है, निषेधभाग का विषय है 'अतद्रूप' और विधि भाग का विषय है 'तद्रूप'। इस प्रकार विकल्पन का अर्थ है एक ही वस्तु को लेकर विधीयमान और निषिध्यमान दोनों रूपों में कल्पना।<sup>150</sup> अहंप्रत्यवर्मण इसलिए निर्विकल्प है क्योंकि यहाँ अहं का कोई भी प्रतियोगी नहीं है जिससे अहं का व्यवच्छेदन किया जा सके।<sup>151</sup>

अहंप्रत्यवर्मण दो प्रकार का है—शुद्ध और मायाजन्य। शुद्ध अहंप्रत्यवर्मण की भूमियाँ दो हैं। एक तो शिवतत्त्व, जहाँ किसी भी प्रकार विषयगत उपराग नहीं है, केवल संविन्मात्र

है। उसमें शक्तितत्त्व अन्तर्भुक्त है। और दूसरे सदाशिव आदि शुद्ध सृष्टि के तीन तत्त्व, जहाँ तत्त्वों की निर्मलता में केवल विश्व की अर्थात् इदन्तासामान्य की हल्की छाया सी पड़ती है। मायिक अहंविमर्श की भूमि है देह, प्राण, बुद्धि, शून्य आदि प्रमाता, जो स्वतः तो वेद्यरूप हैं, परन्तु अहंविमर्श के कारण इनमें प्रमातृत्व का अभिमान होता है। शुद्ध अहंप्रत्यवमर्श की दोनों अवस्थाओं में कोई भी व्यवच्छेद नहीं होता, यहाँ तक कि जो प्रतिबिम्बित सामान्यवेद्यता है उसके प्रकाशरूप, अहं से एकरूप होने के कारण, उसका भी कोई प्रतियोगी नहीं होता। ऐसी स्थिति में शुद्ध अहंविमर्श को किसी प्रकार विकल्प नहीं कहा जा सकता।<sup>152</sup>

शुद्ध और मायिय अहंप्रतीतियाँ दोनों दो प्रकार की हैं<sup>153</sup>—अनुभवरूप और अनुसंधान रूप। अनुभवरूप शुद्ध अहंप्रतीति शिवतत्त्व की अवस्था है और शुद्ध ‘अहमिदम्’ रूप अनुसन्धानात्मक प्रतीति सदाशिव, ईश्वर और शुद्धाविद्या तत्त्वों की। इन शुद्धसृष्टि के सदाशिवादि तत्त्वों में इदं अभी भी अहं से अभिन्न है और अहं की ही इदन्तया आवृत्ति होती है, इसलिए व्यवच्छेदवर्जना तथा पूर्णता के कारण इन तत्त्वों का अनुसंधानात्मक अनुभव निर्विकल्पक ही रहता है। मायिय या अशुद्ध अहंप्रत्यय की अनुभवरूपता तथा अनुसंधानरूपता दोनों ही देह आदि में स्थिति-भेद से समान रूप से पायी जाती हैं। ‘मैं मोटा हूँ’, ‘मैं साँस ले रहा हूँ’ इत्यादि स्थलों में अहंप्रतीति अनुभवरूप है। विभिन्न स्थितियों में एकरूपता का आसूत्रण करती हुई प्रतीति का आकार अनुसन्धानरूप होता है—“जो मैं मोटा था, वही दुबला हो गया हूँ।”<sup>154</sup> यहाँ ये दोनों स्थितियाँ अहंरूपता के उपरान्त भी विकल्प हैं, क्योंकि शारीरादिगत अहं का घट या अन्य प्राणियों से भेद है। जहाँ भी बाह्य योजना है वहाँ सभी जगह विकल्परूपता ही है। यहाँ अशुद्ध अहमनुसन्धान सारी बाह्य प्रत्यभिज्ञाओं का उपलक्षण है। अभिनव की मान्यता है कि सारी प्रत्यभिज्ञाएँ शिव के आत्मप्रत्यभिज्ञान—मौलिक अहंविमर्श, में परिनिष्ठित हैं, अतः यदि किसी में देह आदि का अपोदधरण (एव्स्ट्रैक्शन) करते हुए उसकी ‘पूर्णता और अवच्छेदीहनता’ को देखकर ‘मैं यह हूँ’ इस प्रकार का अनुसंधान अर्थात् प्रत्यभिज्ञानात्मक परामर्श उदित हो जाए तो यह विकल्पशून्य सदाशिव की ही अवस्था होगी।<sup>155</sup>

प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक यहाँ कई चीजों की भूमिका तैयार कर रहे हैं। निम्नतम स्तर पर देह के साथ अहमनुसंधान में चेतना का, भले ही हम उसे अशुद्ध क्यों न कहें, सबसे सहज स्वाभाविक विषयीकरण है। भारतीय दर्शन की अतिक्रामी परम्परा, जिसमें काश्मीरी आचार्य मूर्धन्य हैं, पूरे ब्रह्माण्ड को देह का ही संघटनात्मक विस्तार मानती है। इसीलिए साधना और उपासना में देह का इतना महत्त्व माना गया है। देह का अर्थ केवल स्थूल शरीर ही नहीं है, यह वह सब है जिस रूप में शुद्ध चैतन्य विषयरूप में आशयानीभूत है।<sup>156</sup> ‘पिण्डे ब्रह्माण्डम्’ के समीकरण की यात्रा यहीं से प्रारम्भ होती है। काश्मीर शैव दर्शन इसी अर्थ में संसृतिविद्या है। विश्वचेतना का अवरोहण-क्रम जिसमें वह अपना प्रमेयीकरण करती हुई शिव से प्रारम्भ कर पृथ्वी तत्त्व तक आती है, वह उसका अपने को पहचानने का

उद्यम है—‘यह सब मैं हूँ’ — ‘अहमिदम्’। इसी प्रकार पृथ्वी से शिव तक लौटने का आरोहण क्रम भी पारमार्थिक प्रत्यभिज्ञा है — ‘इदमहम्’, जो अन्ततः वेद्यता के अभाव में अहं प्रत्यवर्मण में सिमट जाता है। इस प्रकार जहाँ यह आरोहण/अवरोहण-क्रम प्रत्यभिज्ञानात्मक है वहीं प्रत्येक चरण की आन्तरालिक अनुभूतियाँ भी इस अर्थ में प्रत्यभिज्ञानात्मक और अतिक्रामी हैं कि अवरोहण क्रम में हर पूर्ववर्ती तत्त्वावस्था परवर्ती प्रत्यभिज्ञाओं का पूर्वसम्भावन और अपने में अन्तर्भावन करती है, और आरोहण क्रम में हर पूर्ववर्ती अवस्था उत्तरवर्ती में अन्तर्भुक्त होते चलती है। अहन्ता से विश्वेदन्ता और विश्वेदन्ता से व्यष्टि इदन्ता का उदय अहंता की इस प्रागनुभविक सम्भावनसामर्थ्य को अपना ही निरन्तर विषयीकरण करते हुए अपने से ऐक्यानुसंधान करने में व्यक्त करता है। अभिनवगुप्त की स्पष्ट घोषणा है कि विश्वरूप में आत्मप्रमेयीकरण अपने से परे अतिक्रामी विषयिता का दृढ़ बोध करता है। इसे वे प्रतिलाभ कहते हैं।<sup>157</sup> यहाँ प्रतिलाभ शब्द में प्रत्यभिज्ञा की छाया स्पष्ट है। अभिनवगुप्त कारण भी देते हैं, जो प्रत्यभिज्ञा की मौलिक धारणा से उपजता है। संसृति-प्रक्रिया के ये सारे तत्त्व परमार्थतः परमशिव की शक्तियाँ ही हैं।<sup>158</sup> अतः यह बोध कि तत्त्व वस्तुतः परमेश्वर की शक्तियाँ हैं, हमें शक्तिमान् की प्रत्यभिज्ञा करा देता है।<sup>159</sup> इसी अर्थ में सारी सृष्टि प्रत्यभिज्ञानात्मक व्यापार है। यहाँ हर तत्त्व स्वरूपमात्रनिष्ठ होने से अतिक्रामी है और अन्य तत्त्वों को अन्तर्गम्भित करने के कारण अन्तर्व्यापक भी। वह दैनिक जीवन से दृष्टान्त देते हुए कहते हैं, जैसे घट पाने के लिए घटत्व का ज्ञान हमें घट तक अनायास पहुँचा देता है, पर इस घटत्व की गोद में अनेक शक्तियाँ हैं — जैसे सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि। यदि सत्ता का आश्रय लेकर घट तक पहुँचना पड़े तो यह लम्बी यात्रा होगी, क्योंकि सत्ता तो स्वरूप मात्र निष्ठ है और उसके बोध से घट का पाने के लिए अन्य शक्तियों की अपेक्षा होगी। इसलिए सत्ता को घट से दूर कहा जाएगा। परमार्थ-लाभ में इस दृष्टान्त को पलटा जा सकता है।<sup>160</sup> महार्थमञ्जरी के प्रणेता महेश्वरानन्द इस तथ्य को रेखांकित करते हैं।<sup>161</sup> अभिनवगुप्त अपने इस प्रतिपादन में समस्त उपासना-वैचित्र्यों, उनके स्तर-भेदों और अपने मूल सिद्धान्त के साथ प्रासंगिकता भी हूँड लेते हैं।<sup>162</sup>

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में अन्तर्वस्तु (कॉन्टेन्ट) की दृष्टि से किये प्रत्यभिज्ञा विभाग की अर्थवत्ता समझ में आने लगती है। विज्ञानभैरव में शुद्ध अनुसंधानमूलक दो अहंप्रत्ययों की चर्चा आयी है।<sup>163</sup> इसके दो प्रतीकात्मक ज्ञानाकार हैं—

1. सोऽहम् (वह मैं हूँ), अहमिदम् (यह मैं हूँ), और

2. ममेदम् (वह मेरा है)।

प्रथम में धर्मियों की एकता का अनुसंधान है—‘यः शुद्धबोधस्वरूपः कर्ता च सोऽहम्’। इसे अहंप्रत्यवर्मण कह सकते हैं। यहाँ विकल्पातीत या निर्विकल्प स्थिति है। दूसरे में, सारी विकल्प सृष्टि का सांसार प्रसार मेरा ही स्वातन्त्र्य रूप ऐश्वर्य है—‘सर्वो ममायं विभवः’। इन्हें क्रमशः धर्मप्रत्यभिज्ञान और धर्मप्रत्यभिज्ञान कहा जा सकता है।<sup>164</sup> उत्पल

और अभिनवगुप्त विज्ञानभैरव कृत इस भेद का आदर करते हैं।<sup>165</sup> इस द्वैध से अनुभव जगत् का आत्मतया या आत्माभासनतया ग्रहण परमार्थ तत्त्व तक हमें सहज ही ले जाता है। दूसरे शब्दों में, धर्म-प्रत्यभिज्ञान की अनिवार्य परिणति है धर्मि-प्रत्यभिज्ञान।<sup>166</sup>

विकल्प-प्रवृत्ति की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा के तीन भेद किये जा सकते हैं—

1. मायीय या सविकल्प प्रत्यभिज्ञा
2. निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा और
3. परा प्रत्यभिज्ञा

ये तीनों प्रकार अहं प्रत्यवमर्श के क्रमशः अशुद्ध, मिश्रित और शुद्ध विभाजन पर आधारित हैं। विकल्प और प्रत्यभिज्ञा में मौलिक अन्तर है। विकल्प है अभेद में भेदन, जबकि प्रत्यभिज्ञा है भेद में अभेदन। अतः समस्या है दोनों विरोधी बिन्दुओं का सम्बन्ध कैसे हो। उपर्युक्त विभाजन के द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया है कि सामान्यतः भेद में अभेद रूप होने पर भी प्रत्यभिज्ञा भेद, भेदाभेद और अभेद इन तीनों स्तरों पर प्रवृत्त होती है और स्तर-भेद के कारण उसकी प्रवृत्ति के प्रकार में विशिष्टता आती जाती है। मायीय प्रत्यभिज्ञा का सन्दर्भ जागतिक है। इस स्थिति में 'यह वही घट है' (सोऽयं घटः) में घट का निश्चयन विकल्प से और तदूपता (सोऽयं) का प्रत्यभिज्ञान से होता है। यहाँ पर भी हमारे अनुभव दो प्रकार के हो सकते हैं—'अयं घटः' और 'सोऽयं घटः'। इसमें पहला अनुभवरूप है और दूसरा अनुसंधानरूप। भास्कर का कहना है कि ये दोनों ही अनुसंधानरूप हैं, केवल पहले में देश-काल की तुलना में आकार की उल्लंघनता के कारण अनुसंधानरूपता पर ध्यान नहीं जाता। ये बाह्यवस्तु विषयक प्रत्यभिज्ञाएँ हैं और विकल्परूप हैं। पर यहाँ पर भी जो अनुसंधान है वह प्रमाता का व्यापार है, अतः अत्यन्त क्षीण होने पर भी ये हमें मूल प्रत्यभिज्ञा से जोड़ने की सम्भावना रखती हैं।

दूसरे प्रकार — निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा — का सम्बन्ध भेदाभेद स्तर से है। जैसाकि हम देख चुके हैं, शिव का सम्बन्ध शुद्ध स्तर से और सदाशिव आदि का शुद्धाशुद्ध से है। वस्तुतः तत्त्वों का उल्लेख यहाँ प्रतीकात्मक या उपलक्षणात्मक मानना चाहिए। षडध्व के विकास में सारी समकक्ष स्थितियों में यह लागू होगा। जैसे परावाक् की स्थिति शुद्ध और पश्यन्ती की शुद्धाशुद्ध मानी जाएगी।<sup>167</sup> यहाँ, जैसा कि हम प्रसंग-भेद से देख चुके हैं, अपोहन-व्यापार के अभाव के कारण विकल्प का अभाव है, क्योंकि विनिश्चनीय की अपोहनीय से अलग सत्ता नहीं है। इस अविच्छेद की प्रत्यायक प्रतीति अनुसंधान है।

तीसरा प्रकार इन सभी विकल्पों से परे जाता है। इसीलिए इसे परा प्रत्यभिज्ञा कहते हैं जिसका सम्बन्ध परमशिव की विश्वोत्तीर्ण स्थिति से है। उसे ही अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी के मंगलश्लोक में 'निराभास' कहा है।<sup>168</sup> यह दो अभेदों — प्रकाश और विमर्श — के मध्य अभेद की स्थिति है।

जैसाकि हमने प्रारम्भ में कहा था कि प्रत्यभिज्ञा का प्रयोग प्रमा और प्रमाण दोनों अर्थों में हुआ है। शैव दार्शनिक प्रमाण और प्रमाणफल अर्थात् प्रमा में अभेद मानते हैं। इस

दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा प्रमाण और प्रत्यभिज्ञा प्रमा एक हैं। 'शक्त्याविष्करणेन्यं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते' में 'शक्त्याविष्करण' अंश प्रमाण और 'प्रत्यभिज्ञोपदर्शन' (अर्थात् बोध/प्रतीति) अंश प्रमा है। यह बात शैवों ने बौद्धों से ली है। बौद्धों की मान्यता है कि वस्तुतः बोध एक है, केवल विश्लेषणात्मक दृष्टि से हम प्रमाण और प्रमा में भेद करते हैं। इनमें जन्यजनकभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका सीधा अर्थ होगा दोनों अंशों में वास्तविक भेद मानना। इस सम्बन्ध को बौद्धों के शब्दों में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव कहा जा सकता है।<sup>169</sup> प्रमाण व्यवस्थापक या व्यवस्था-हेतु है और प्रमा या प्रमाणफल व्यवस्थाप्य। बौद्धों के प्रभाव का साक्षात् प्रमाण है अभिनव द्वारा इस प्रसंग में विमर्शनी<sup>170</sup> और बृहतीविमर्शनी<sup>171</sup> में धर्मकीर्ति की सम्बन्धित कारिका को अध्युपगम-पूर्वक उद्धृत करना। परन्तु यह समता केवल यहाँ तक सीमित है। अभिनवगुप्त इस शब्दावली को स्वीकार करते हैं, परन्तु हेतुफलभाव की शब्दावली को अधिक उपयुक्त पाते हैं।<sup>172</sup> ज्ञान के अन्दर पाये जाने वाले व्यापार को लेकर दोनों के दृष्टिकोण एक-दूसरे के नितान्त विरोधी हैं। क्षणिकवाद की अपनी मान्यता के कारण बौद्ध व्यापारमात्र का निषेध करते हैं और जो भी व्यापार दिखाई देता है वह 'उत्प्रेक्षित' (सव्यापारमित्र) है, जब कि अभिनव की दृष्टि में व्यापार प्रमा की आत्मा है और वही वह आधार है जिसको लेकर प्रमाण और प्रमा में अभेद की सिद्धि होती है। फल अर्थात् प्रमा 'व्यापार' है, जो व्यापार करने वाले प्रमाता और व्यापारित किये जा रहे प्रमाण से एकरूप है।<sup>173</sup> परन्तु दोनों के अभेद का अर्थ यह नहीं है कि वे पर्यायिकाची हैं। वस्तुतः प्रमाण है विषय का बाह्योन्मुख प्रकाश और प्रमा है विषय से संकुचित उसी का अन्तर्मुख विमर्श। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है शक्ति का बहिर्मुख प्रकाशन और प्रत्यभिज्ञान प्रमा है उन शक्तियों द्वारा निरूपित शक्तिमत्त्व रूप अन्तरिक विमर्श। यहाँ शैव दार्शनिक हेतुफलभाव या व्यापारफलभाव की आन्तरिक एकता बताने के लिए जिस पद्धति का आश्रय लेते हैं वह भी आकार में प्रत्यभिज्ञात्मक है<sup>174</sup> जिसका आधार प्रकाश और विमर्श का समीकरण है। प्रकाश व्यवस्थापक है, विमर्श व्यवस्थाप्य; प्रकाश प्रमाण है विमर्श प्रमा; दोनों का अनुसंधान या एकीकरण ही प्रत्यभिज्ञा है।<sup>175</sup>

प्रत्यक्ष और स्मृति के एकीकरण या अनुसंधान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रश्न है कि निर्विकल्पक स्थिति में तो केवल साक्षात्कारात्मक अनुभूति होती है या अखण्ड वर्तमानकालता होती है। स्मृति तो विकल्प है, वह वहाँ होती नहीं तो इस चरम अनुभव को प्रत्यभिज्ञा किस आधार पर कहते हैं? अभिनवगुप्त के टीकाकार भास्करकण्ठ ने यह प्रश्न भास्करी के प्रारंभ में ही ही उठाया है।<sup>176</sup> वे इस प्रश्न को निराधार मानते हैं क्योंकि आत्मा तो सदा भात (स्मृति) और भासमान (प्रत्यक्ष) है। अपने ही स्वातन्त्र्य से उसे अपने ऐश्वर्य की विस्मृति हो जाती है, उस ऐश्वर्य की 'वह ईश्वर मैं ही हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। भात की ही विस्मृति हो ऐसा कोई नियम नहीं है। भासमान की भी विस्मृति हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो 'दशमस्त्वमसि' की भाँति 'तत् त्वमसि' जैसे महावाक्यों के उपदेश का कोई अर्थ

नहीं रहेगा। भास्कर का समाधान ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में उठाए गए प्रश्न का पारमार्थिक समाधान है। प्रतिप्रश्न से हम समस्या का पुनर्कथन कर देते हैं। दूसरे, इस उत्तर में एक कठिनाई है—विस्मृति का सम्बन्ध अतीतानुभव से होना चाहिए, वर्तमान से नहीं।<sup>177</sup> इस बात में सन्देह नहीं कि ज्ञानमीमांसा में भी मौलिक साँचा परमार्थिक ही रहेगा। जैसे कि स्मृति भी शक्ति है और शक्ति होने के नाते शक्तिमान् का स्वभाव है, अतः उनमें तादात्म्य स्वभाविक है<sup>178</sup>, परन्तु देखना होगा कि शैव दार्शनिक इसमें क्या पद्धति अपनाते हैं।

आगामी अंक में समाप्त।

### सन्दर्भ

79. प्रयोजनं च प्रत्यभिज्ञोपायज्ञानम्, तस्य प्रयोजनं प्रत्यभिज्ञानं, तस्यापि प्रयोजनम् ...।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 41
80. देखिए Argument; पृ. 85-86
81. वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्यथी धर्मी यो धर्मान्यथात्वम् अभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्यवम् इति।—यो.सू.भा. 3.14
82. वाक्यप्रमाणपदतत्त्वसदागमार्थाः  
स्वात्मोपयोगमुपयान्त्यमुतः स्वशास्त्रात्।  
भौमान् रसाज्जलमयांश्च न सस्यपुष्टैः  
मुक्त्वार्कमेकमिह योजयितुं क्षमोऽन्यः॥—ई.प्र.वि., 2, पृ. 317 (उपान्त्य श्लोक)
83. आत्मानमनभिज्ञाय विवेकुं योऽन्यदिच्छति।  
तेन भौतेन किं वाच्यं प्रश्नेऽस्मिन् को भवानिति॥—वही (अन्त्य श्लोक)
84. प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय पर, विभिन्न सन्दर्भों में, हमने अन्यत्र विचार किया है। देखिए : “प्रत्यभिज्ञ दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप”; “Recognition in Pratyabhijna School : A Study in Epistemology”; और, काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ, पृ. 165-181
85. इस सम्बन्ध में देखें प्रत्यभिज्ञा पद के लिए अभिनवगुप्त, पृ. 290-304; काश्मीर शिवाद्वयवाद, पृ. 165-66, 177; मुश पद समूह के लिए ‘स्वभावभवभासस्य’, और प्रधान तीन पद समूहों के संग्रह के लिए Argument., पृ. 87 और आगे
86. उदाहरणार्थ : गुरुवचनाज्ञानक्रियालक्षणशक्त्यभिज्ञानादेवा।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 314; आत्मानमनभिज्ञाय विवेकुं योऽन्यदिच्छति।—वही, पृ. 317
87. देखिए ई.प्र.का. 4.2.17 (अपरिज्ञातः), 4.2.12 (परिज्ञानतः)
88. न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शीनी।—वाक्य. 1.116। अथर्व ‘प्रत्यवमर्श’ का recognition-cum-identification से अनुवाद करते हैं। देखिए भर्तृहरि, पृ. 106

89. ई.प्र.का. 2.3.3 (एकप्रत्यवमर्शसामर्थ्योपपादिते) और ई.प्र.का. 2.3.11 (एकप्रत्यवमर्शार्थाद्) में एकप्रत्यवमर्श शब्द धर्मकीर्ति से इसी अर्थ में उत्पल ने लिया है। प्रमाणवार्तिक श्लोक 73 में आये 'एकप्रत्यवमर्श' पर धर्मकीर्ति अपनी स्वोपज्ञ टीका में इसका अर्थ प्रत्यभिज्ञान (एकम् एकाकारं प्रत्यभिज्ञानम्) करते हैं। देखिए वृत्ति, पृ. 163-64 (पादटिप्पणी 7)

90. 'परामर्शबलादेव' की भास्कर व्याख्या करते हैं : तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानबलादेव।-ई.प्र.वि., 1, पृ. 39

91. स एवायं पदार्थः एकप्रत्यवमर्शरूपः।-ई.प्र.वि., 2, पृ. 117, 118

92. विमर्शः तमोऽपसारणेन स्फुटीकरणम्।-ई.प्र.वि., 2, पृ. 10

93. प्रत्यय बदलकर प्रतिसंधि, अनुसन्धि, अभिसंधि या अनुसंहिति आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। इसी वर्ग के आलोक में ज्ञान-प्रकारों के व्यापकतर वर्ग को सूचित करने के लिए अभिनवगुप्त एक विशिष्ट शब्दावली की ही रचना कर डालते हैं—अनुसंधान, अनुवेध, अनुयोग इत्यादि (ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 115)।

94. उदाहरणार्थ देखिए ई.प्र.वि., 1, पृ. 36-37 (अभिमुखे वस्तुनि ज्ञानम्); 188-89 (प्रत्यभिज्ञानम्); भास्करी (परामर्श, पृ. 291); पृ. 340 (योजना/प्रत्यवमर्श)।

95. स्मृत्यनुभवानुसंहितिवशतःः (वि.पं. 3.38) अर्थस्य द्वौ सहानुसन्धानम् (3.39)। विद्याचक्रवर्ती दोनों स्थानों पर अनुसंधान की व्याख्या प्रत्यभिज्ञा से करते हैं।

96. प्रतिगता अभिज्ञाम् इति प्रत्यभिज्ञा।-वाचस्पत्यम्, पृ. 446

97. प्रत्यभिपूर्वोऽजानातिः।-ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 31

98. प्रतीपम् आभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा।-ई.प्र.वि., 1, पृ. 36

99. प्रतिकूलं स्वात्माभिमुखम् अज्ज्वति।-ललितासहस्रनाम पर भास्करराय की सौभाग्य-भास्कर टीका, भास्कररायभारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, ब.ना.शास्त्री खिस्ते, तथा शी.प्र. उपाध्याय, वाराणसी, 1994, पृ. 358 पर उद्धृत।

100. प्रतिशब्दस्यार्थः अनुसंधानं स एव प्रतीपम् इत्यस्यापि पूर्वापरविरोधो न शङ्कनीयः।-भा., 1, पृ. 36

101. प्रति आभिमुख्येन।-ई.प्र.वि., 1, पृ. 357

102. प्रति आन्तरत्वेन अवमर्शः।-भा., 1, पृ. 302

103. पूर्वस्य प्रत्यावृत्त्या वर्तमानस्य च आभिमुख्येन ज्ञानमिति।-ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 214

104. प्रतीपभानं प्रतिभा भावानाम् ...।-ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 339

105. प्रतीपम् आभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा।-ई.प्र.वि., 1, पृ. 36

106. आभिमुख्येन धारणापूर्वकतया।-ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 24

107. आभिमुख्येन विषयिविषयपरवशतात्यागेन ... तादात्म्यापादनेन।-वही, 1, पृ. 114-115

108.. ज्ञातस्यापि मोहवशादज्ञातस्य इव आभिमुख्येन हृदयङ्गमीभावेन ज्ञानम् प्रत्यभिज्ञानम्।—ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 31

109. एतदुपलक्षणं हृदयस्य आवर्जनं तदुन्मुखीकरणं सत्यमेतद्रूपमिति हृदयङ्गमत्वं च उच्यते।—वही, पृ. 86

110. प्रतीपं ज्ञातस्यापि विस्मृतस्येव पुनराभिमुख्येन, न तु स्मर्यमाणतया अपितु स्फुटत्वेन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं स एवाऽयमिति।—ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 32

111. स्फुटदृष्टाभिमतघटादितुल्यताप्रतिपादनेन अनपहनीयत्वप्रख्यापनम्।—वही, पृ. 79

112. अभितः स्वरूपसर्वस्वस्वीकारेण।—वही, पृ. 86

113. कीथ के अनुसार प्रत्यभिज्ञा का प्रयोग सर्वप्रथम बौद्ध पालिग्रन्थों में मिलता है। पहचान चिह्न (अभिज्ञानेन) के सहरे वस्तु को पहचानना (पच्चभिज्ञा) में विकल्पज्ञान (सञ्ज्ञा) का इसे मुख्य लक्षण बताया गया है (डॉक्ट्रिन्., पृ. 107)। नीलमतपुराण में 'अभिज्ञात' का प्रयोग आया है। इन्द्र के पूछने पर ब्रह्मा कहते हैं कि हे शक्र अब तुम 'जान गए हो' कि महेश्वर ही सर्वकर्ता और सर्वज्ञ हैं (नीलमतपुराण 1270-1273)। यहाँ पर 'अभिज्ञातोऽसि' शब्द के सन्दर्भगत प्रयोग से प्रत्यभिज्ञा के बीज वपन की बात सोची जा सकती है, पर उसके स्वरूप को लेकर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। *The Birthplace of Kalidasa* (दिल्ली, 1926) में लक्ष्मीधर कल्याने को कालिदास के प्रायः सभी ग्रन्थों के उद्धरण और घटना-व्यापार विश्लेषण के द्वारा कालिदास को प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अनुयायी मानते हुए प्रत्यभिज्ञा की धारणा को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है [किन्तु प्रत्यभिज्ञानाभरणदर्शनेन शायो निवर्तिष्यते (शाकु. अंक 4), त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि, (शाकु. अंक 7) इत्यादिं]। यद्यपि प्रथम दर्शन, मोह से विस्मरण, फिर अभिज्ञान या चिह्न दर्शन से वस्तु का स्वरूप बोध यह सामान्य प्रक्रिया वहाँ मिलती है पर उसे प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक विश्लेषण मानना और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की परम्परा से जोड़ना कठिन होगा। प्रत्यभिज्ञा दर्शन से भिन्न शंकराचार्य की धारा में शंकर के दक्षिणामूर्तिस्तोत्र पर सुरेश्वराचार्य, जिनका समय शंकर से थोड़ा ही परवर्ती है, के मानसोळास वार्तिक और उस पर स्वयंप्रकाश यति की तत्त्वसुधा टीका है। इस स्तोत्र के छठे श्लोक में शंकर प्रत्यभिज्ञा का उल्लेख करते हैं (प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते)। परन्तु मुख्य चर्चा सुरेश्वर सातवें श्लोक की व्याख्या में करते हैं जहाँ काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा के अनेक बिन्दुओं की पूर्व सम्भावना हुई है। यह अवश्य एक दार्शनिक प्रयास कहा जा सकता है। और यदि यह वस्तुतः आचार्य शंकर की कृति है और मानसोळासवार्तिक भी उन्हीं सुरेश्वराचार्य का है (पूज्य कविराज जी ऐसा ही मानते थे) तो प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रत्यभिज्ञा की धारणा पर उनका गहरा प्रभाव मानना होगा। परन्तु यह स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। यहाँ पर हमें संकेतमात्र से संतोष करना होगा।

114. दृष्टस्मरणयोरैक्ये स्थिते तदुपपद्यते॥ तथा सा प्रत्यभिज्ञानात् स एवायमितिस्थितिः। युज्यते कथमत्रैव ज्ञानयोः कालभिन्नयोः॥ द्वयैरैक्यमैक्यं वा तदैक्यं भिन्नयोः कथम्। अनैक्ये न स एवायमिति स्याद् घटदण्डयोः॥ तस्मादैक्यमिहं स्पष्टं संसारे समवस्थितम्।—शि.दृ., 4. 120-123; देखिये डॉक्ट्रिन्, पृ. 107

115. तस्यापि परमार्थलाभेन तुष्टेयम् ।—ई.प्र.का. वृत्ति., पृ. 2 .

116. शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदशर्वते ।—ई.प्र.का. 1.1.3

117. दृढनिश्चयरूपं प्रत्यभिज्ञानम् ।—वृत्ति, पृ. 3

118. ऐकयोजनान्तःपूर्वाभासस्थितिलक्षणसंस्काराश्रिता प्रमातृव्यापाररूपा कल्पनैव प्रत्यभिज्ञान्व्या ।—वही, पृ. 29

119. विद्याभिज्ञापितैश्वर्वशिद्धिद्वनो मुक्त उच्यते ॥—ई.प्र. का. 3.2.3; मार्यीयशून्यादिप्रमाता नियत्या कर्माधीनः संसारी, विद्यावशाद् आत्मतत्त्वाभिज्ञाया मुक्तः ।—वृत्ति, पृ. 66

120. संसारिणाम् ऐश्वर्यस्य स्वात्मनः प्रत्यभिज्ञानं विद्यया, पशुभावो मायया ।—वही, पृ. 63

121. कान्तदृष्टान्तेन ईश्वरप्रत्यभिज्ञोपपादनीया चापूर्वफला च ।—वही, पृ. 80

122. तैस्तैरप्युपायाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।  
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥—ई.प्र.का. 4.1.17

123. तदा तत्क्षणमेव पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्तिः ।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 214-15

124. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।  
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥—ई.प्र.का. 4.1.11

125. परिज्ञातेश्वरभावस्य ममायं संसारमयो विभव इत्यभेदेन विश्वमाविशतः ।—वृत्ति, पृ. 79

126. विभाव्य शिवतामीयमनिशमाविशन् सिद्ध्यति ।—ई.प्र.का. 4.1.16

127. यत्र यथावस्थित एव व्यवहारे प्रत्यभिज्ञामात्रात् शिवतालाभः ।—वृत्ति, पृ. 80

128. भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका ।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 36

129. ई.प्र.का. 2.3.3 और उस पर वृत्ति, पृ. 48

130. वही, 1.3.6 और वृत्ति, पृ. 13

131. वही, 1.8.10 और वृत्ति, पृ. 40

132. यत्किल दर्शनस्य स्मरणस्य च यदेकमुखं परामर्शीयं चित्तत्वम्, तदा भवति अभिन्नविषयत्वं न अन्यथा ।—ई.प्र.वि.वि., पृ. 229

133. एतदुभयमेलनात्मकं प्रोक्तानुभवस्मरणपरामर्शमेलनस्वरूपम् ।—भा., 1, पृ. 189

134. प्रत्यक्षानुमानागमाद्यन्यतममानप्रत्यभिज्ञानबलेन ।—ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 233

135. प्रमाण-समुच्चय 1.3; देखिए बुद्धिस्ट लॉजिक, त्वोर्बात्स्की, डॉवर संस्करण, भाग 2, पृ. 20-21

136. कुतः पुनरेतद्विकल्पोऽर्थात्त्रोत्पद्यते इति? अर्थसन्निधनिरपेक्षत्वात्। बालो हि यावत् दृश्यमानं स्तनं 'स एवाय' । इति पूर्वदृष्टत्वेन न प्रत्यवमृशति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने । पूर्वदृष्टापरदृष्टं चार्थमेकीकुर्वद् ... तादृशं चाभिलापसंसर्गयोग्यम् ।—न्या.वि.टी., 3, पृ. 50-51

137. स्मृत्युत्प्रेक्षादेश्च अवान्तरजातिभेदयोगेऽपि विकल्पलक्षणमहासामान्ययोग इत्यपि सूचितम्।—ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 115

138. प्रत्यभिज्ञेयशब्देन इदमाह ... तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखी भवति। युक्तम् ... 'तैस्तैः ... तत्प्रत्यभिज्ञोदिता' इति तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं न तु तदेवेदम् इत्येतावन्माव्रम्।—ध्वन्यालोकलोचन, निर्णयसागर, पृ. 35-36

139. इदमेताद्वृगित्येवं यद्वशाद्व्यवतिष्ठते। वस्तु प्रमाणं ... ॥—ई.प्र.का. 2.3.1

140. सोऽयमित्यभिसंबंधाद्वूपमेकीकृतं यदा। शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते ॥ — वा.प. 2.130

141. सामानाधिकरण्येन अनुगामित्वेन संधानं विच्छिन्नसम्मतानामपि ज्ञानानाम् एकीभवनं नाम चिदेव अंतर्मुखा, न अन्यत् किंचिदिति।—ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 276; और देखिए, ई.प्र.का. 1.3.7 पर वृत्ति।

142. सर्वं च अनुसंधानं स्मरणानुसन्धानग्राणं विषयमेलनेन विना न संभवत्येव।—वही, पृ. 280

143. संविद्रूपावेशी शब्दनात्माभिलापो वागित्यनेनोक्तः—वक्ति अर्थं स्वाध्यासेन सोऽयमत्यभिसंधानेन।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 303; इस विचार का पल्लवन इस लेख में नहीं किया गया है। और भी देखिए, काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएं, नवजीवन रस्तोगी, दिल्ली, 2002, पृ. 171-172

144. इस प्रकार के प्रयासों में कठिनाई यह है कि इन शब्दों का सन्दर्भ-भेद से पर्यायशः प्रयोग मिलता है। व्यापकवाच्यता वाले शब्दों का व्याप्यवाच्यता वाले क्षेत्रों में तो बहुतायत से प्रयोग दीखता है, पर कभी-कभी इसका विलोम भी देखने को मिलता है। अतः इस प्रकार के प्रयास अन्तरिम ही कहे जा सकते हैं।

145. अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञानमपि एतदुभ्यमेलनात्मकम् अत्रैव अंतर्भूतम्।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 188-89

146. न केवलं पूर्वोक्तयुक्तिभिज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं नास्तीत्येतावतैव स्मरणज्ञानेन पूर्वानुभवस्य विषयीकारो निषिद्ध्यते, यावत् युक्त्यन्तरेण अपि। तथा हि घटं स्मरामि इति ज्ञाने घटस्यैव विषयतया प्रतिभासः, न पूर्वानुभवस्य। स केवलं स्मरणज्ञानैव सह मिलितो भाति।—ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 262

147. एवं 'स एवाऽयं घटः' इति घटाद्यनुसन्धानेऽपि विकल्पत्वं मन्तव्यम्, किन्तु एतासु अनुसन्धानभूमिषु विद्याशक्तिराधिक्येन अचिरद्युतिवद् दीप्यते इति तासां परपदपरिशीलनप्रथमकल्पाभ्युपायत्वम् अभ्युपागमन् गुरुः।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 326-27

148. अहंप्रत्यवमर्शोऽयः प्रकाशात्माऽपि वाग्पुः। नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्व्याक्षेपी विनिश्चयः॥—ई.प्र.का. 1.1.6

149. अन्यव्यवच्छेदानं विकल्पः ... तेन विकल्पे तत्त्वं निश्चेतत्वम्, अतत्त्वं अपोहित्वं भवति।—ई.प्र.का. 1, पृ. 304-305

150. उभयविषयतया इति निषेधभागस्य अतद्रूपं विषयो, विधिभागस्य तु तद्रूपं, विविधं हि कल्पनं विधीयमाननिषिध्यमानतयेति विकल्पनम् ।—ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 281
151. तत्र शुद्धेऽहंप्रत्यवमर्शो प्रतियोगी न कश्चिदपोहितव्यः भवति ।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 313
152. अहंप्रत्यवमर्शो द्विधा— शुद्धो मायीयश्च । तत्र शुद्धो यः संविन्मात्रे विश्वाभिन्ने विश्वच्छायाछुरिताच्छात्मनि वा । अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ । तत्र शुद्धेऽहंप्रत्यवमर्शो प्रतियोगी न कश्चिदपोहितव्यः संभवति । अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ अन्यस्माद् देहादेर्घटादेश्च व्यवच्छेदेन भवन् विकल्प एव ।—वही, पृ. 313-14
153. द्विविधो चायम् अहंप्रत्ययो द्विधा—अनुभवमात्ररूपश्चानुसंधानात्मा च । ... तत्र शुद्धे विकल्परूपत्वमप्रतिष्ठेत इत्युक्तम्, अशुद्धे तु अनुभवरूपे विकल्पत्वमुपपादितम्, अशुद्धे तु अनुसंधानात्मतया अभेदस्य प्रस्फुरणात् कश्चिदविकल्पत्वं शङ्केत तस्य व्यापोहं व्यपोहितुमाह ... सा योजना सर्वा कल्पना विकल्प एव, न तु शुद्धः प्रत्यवमर्शः ।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 323-325
154. अहं सुखी च दुःखी च रक्ताशचेत्यादिसविदः ।  
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तते ऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥—स्प. का. । 4, भट्टोत्पल और क्षेमराज दोनों की दृष्टि में यहाँ प्रत्यभिज्ञा का निरूपण हुआ है ।
155. यदि हि तस्य देहादेः सर्वत्र पूर्णत्वम् अवच्छेदहीनत्वं च पश्यन् अनुसन्धानम् अहमिदम् विद्यात् तदियं सदाशिवभूः केन विकल्पास्पदत्वेन भण्येत यावता विच्छिन्ने एव सोऽनुसंधिः ।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 326
156. गोपीनाथकविराज्ज, थॉट्स, पृ. 77
157. पदार्थनिर्णयं विश्वप्रमेयीकरणप्रतिलब्धतद्विश्वोत्तीर्णप्रमातृपदहृदयज्ञमीकाराभिप्रायेण निरूपयितुम् ... ।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 213
158. परमेश्वरस्य हि परमार्थतः शक्तयो यस्तत्त्वग्रामः, काचित्तु शक्तिरन्यबहुतरशक्तिंकोडीकारं कुर्वती निकटत्वादुपास्या घटस्येव घटात्मिका, काचिदन्यापेक्षिणी स्वरूपमात्रनिष्ठा द्वारा घटस्येव सत्तात्मिका ।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 222
159. तावन्मलासादनात् सत्त्वरं शक्तिमत्रापकत्वात् वा उपासितुं योग्या ।—भा., 2, पृ. 222
160. इति घटे एव यथा भेदवृष्टिः तथा पारमेश्वरे प्रकाश इति व्यवहारोऽपि भगवदनृगृहीहीतानां परमार्थप्रवेशे प्रत्युत अभ्युपायः न तु विरोधी ।—ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 157
161. परमशिवभट्टारकस्य शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा महती तत्त्वानाम् अन्योन्यप्रयोजकभावे पर्यन्ततः सामान्यप्रयोजकत्वे च प्रगल्भा भवत्युज्जृम्भते पृथिव्यादिभाववर्णमिव अनश्चित्तशिवभट्टारकमपि क्रोडीकृत्य अभिवर्तते ततद्रूपतया परिस्फुरति इत्यर्थः ।—म.मं. प., पृ. 67
162. सर्वाणि हि तत्त्वानि भगवतः शक्तिरूपाणि स्पन्द एव । ... काचित्तु शक्तिरनन्ताः 'शक्तीराक्षिप्य वर्तमाना नेदीयसी भगवतः, अन्यास्तु दूरा अल्पतमा दवीयस्तमा इति उपासना विचित्रा आगमेषु दर्शिता: ।—ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 265

163. स एवाहं शैवधर्मा इति दाढ्याद्वेच्छिवः ॥—वि. भै. 109; ममैव भैरवस्येता विश्वभांग्यो विभेदिताः ।—वही, 110
164. 'सोऽयं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः' इति उक्तनयेन द्विविधां प्रत्यभिज्ञां दर्शयन् ।—विज्ञानभैरवोद्योत, काश्मीर ग्रन्थावली, पृ. 95। यहाँ उद्योतकार मुद्रित पाठ 'परिज्ञानतः' के स्थान पर 'प्रत्यभिजानतः' पढ़ते हैं।
165. अभिनवगुप्त, (ई.प्र.का. 4.1.12 पर) विमर्शिनी में इन दोनों ज्ञानाकारों की व्याख्या इस प्रकार देते हैं—1. न हि पृथगात्मा नाम पशुः कश्चिदन्योऽप्यहम्, अपितु यः प्रकाशात्मा स एव अहम्, 2. विकल्पसृष्टिरपि मम स्वातन्त्र्यलक्षणो विभवः ।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 304-305
166. भास्कर का निष्कर्ष है: तत् ईश्वरविषयम् ऐश्वर्यम् ममैवेदमैश्वर्यमिति प्रत्यभिज्ञाविषयीकार्यम्, फलतः स ईश्वरः 'अयम् अहमेव' इति प्रत्यभिज्ञा कार्या इति भावः ।—भा., 1, पृ. 342
167. वस्तुतः शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध की उपलक्षणात्मकता को लेकर सम्प्रदाय में दृष्टि भेद मिलता है। एक दृष्टि है जो परमशिव को शुद्ध, शुद्ध सृष्टि को शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध सृष्टि को अशुद्ध मानती है। दूसरी दृष्टि की चर्चा ऊपर की गयी है।
168. निराभासात् पूर्णादिहमिति पुरा भासयति यत्।
169. न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात् अपितु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्द्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुद्धयते ।—न्यायबिन्दु 1.21 पर धर्मोत्तर, पृ. 82
170. यथोक्तं 'तद्वशात् तद्व्यवस्थानात् ...' इति ।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 75
171. तत एव उक्तं 'तद्वशात् तद्व्यवस्थानात् इति ।—ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 72 उद्दृत कारिका का अंश प्रमाणवार्तिक 3.308 से लिया गया है, यह संकेत सबसे पहले ई.प्र.वि.वि. 3, पृ. 72 में मिलता है। टोरेला ने वर्ही से लिया है।' देखिए वृत्ति, पृ. 162, पादटिप्पणी 4
172. व्यापारश्च व्याप्रियमाणात् कर्तुर्व्यापार्यमाणाद्वा करणाद् अनन्यात्मक एव युक्तः इति मुख्यत्वेन प्रमाणफलयोरभेद एव न्यायः ।—ई.प्र.वि., 3, पृ. 72; और भी, ई.प्र.वि., 2, पृ. 75
173. ननु एवं पर्यायित्वमुक्तं भवेत् न तु फलभावः, आह बाह्योन्मुखतया प्रकाशरूपया तत्र तत् प्रमाणम्, या तु तस्यैव अन्तर्मुखात्मा विमर्शरूपता प्राक् उपपादिता तत्स्वभावेन केवलं विषयदशासंकुचितेन स एव बोधः फलम् ।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 74; और भी, ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 72
174. एवं यतो नीलप्रकाशः ततो नीलमिदम् इति परामर्शः इति एकरूपत्वेऽपि हेतुफलभावः ।—ई.प्र.वि., 2, पृ. 74-75

175. बौद्ध स्रोतों में और भी विस्तार के लिए देखें—“The Pratyabhijna and the Logical-Epistemological School of Buddhism”. R. Torella, **Ritual and Speculation**, सं. टी. गौड़ियान, आलबेनी, 1992, पृ. 330-331, और वृत्ति, पृ. 162-63 पादटिप्पणी 4

176. ननु भातभासमानैकीकरणरूपा प्रत्यभिज्ञात्र न युक्ता। असदेतत्। आत्मा हि भातो भासमानश्च। तदीश्वरत्वं तु तदीयस्वातन्त्र्येण मध्ये विस्मृतं तद्विषयत्वेन प्रत्यभिज्ञायते स ईश्वरोऽहमेवेति। भासमानस्याप्यात्मनो विस्मृतिर्जायते एव अन्यथा दशमस्त्वमसि इति न्यायेन तत्त्वमसि इत्युपदेशायोगात्।—भा., 1, वृ. 11

177. भास्कर यहाँ पर प्रतितर्क कर सकते हैं कि ‘भासमान’ की विस्मृति होते ही वह ‘भात’ हो जाएगा अतः इस प्रस्तुति में कोई अनौचित्य नहीं है।

178. अतएव आत्मनोऽमी विकल्पाद्याः शक्तिविशेषाः तद्विश्रान्तशरीरत्वात् इति दर्शितं ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् इत्यत्र।—ई.प्र.वि., 1, पृ. 186





